



International Journal of Sanskrit Research

अनन्ता

ISSN: 2394-7519

IJSR 2021; 7(1): 498-500

© 2021 IJSR

www.anantaajournal.com

Received: 16-11-2020

Accepted: 18-12-2020

डॉ. सुनील पाटिल

प्रवक्ता, हिन्दी विभाग,
डी.जी. वैष्णव कॉलेज,
आरुम्बाक्कम, चेन्नई, तमिलनाडु,
भारत

Corresponding Author:

डॉ. सुनील पाटिल

प्रवक्ता, हिन्दी विभाग,
डी.जी. वैष्णव कॉलेज,
आरुम्बाक्कम, चेन्नई, तमिलनाडु,
भारत

मीडिया का समाज पर पड़ता दुष्प्रभाव

डॉ. सुनील पाटिल

हमारे ऋषि मुनियों, पूर्वजों और मनीषियों ने भारतीय संस्कृति की जो मजबूत आधारशिला रखी थी वह आज के इस आधुनिक दौर में बिखरती नजर आ रही है। यह सर्वविदित है कि समय के साथ हर वस्तु में बदलाव आता है। किंतु ऐसा बदलाव जो हमें अपनी संस्कृति से दूर ले जा रहा है, जिसमें मानवता, उदारता, सहिष्णुता और त्याग जैसी भावनाओं का गला घोंटा जा रहा है। वह हमारे देश के लिए खतरनाक है। क्योंकि किसी भी देश की पहचान उसकी संस्कृति से होती है। किंतु आज मीडिया ने हमारे संपूर्ण सामाजिक ढाँचे को ही बदलकर रख दिया है। जिसका प्रभाव हमें समाज में विकृत जनतंत्र, राजनीतिक भ्रष्टाचार व दिखावटी शिष्टाचार के रूप में दिखाई देता है। मीडिया के कारण समाज में फैली इस अवस्था पर व्यंग्य करते हुए रघुवीर सहाय ने अपनी 'टेलीविजन' नामक कविता में कहा है कि

"वह चेहरा जो जिया या मरा व्याकुल जिसके लिए हिया"।

उसके लिए समाचारों के बाद समय ही नहीं दिया।

तबसे मैंने समझ लिया है आकाशवाणी में "बन ठन,

बैठे हैं जो खबरों वाले ये सब है जन के दुश्मन"।

आज मीडिया की अतिक्रमणता के कारण पारिवारिक एवं सामाजिक जीवन मूल्य टूटकर बिखरते जा रहे हैं। आज युवा वर्ग पूरी तरह से ग्लैमर बिखरती मीडिया के जाल में फस चुका है। वही दूसरी तरफ उम्रदराज लोग भी इसके सामने बौने साबित हो रहे हैं। युवकों में येन-केन-प्रकारेण धन कमाने की बलवती होती इच्छा, एकल परिवार का चलन, अश्लील कपड़े का प्रचलन, सेक्स का खुले आम प्रचार यह सब चीजें मीडिया की देन है, जो आज हमारे समाज द्वारा व्यवहार में लाई जा रही है।

आज आए दिन टेलीविजन के माध्यम से अनेक रियालटी-शो का प्रसारण किया जा रहा है। उसमें अधिकतर शो ऐसे हैं। जिसमें छोटे-छोटे बच्चों को लिया जाता है। अविभावक भी मीडिया के इस रंग में पूरी तरह रंग चूके हैं। जिस उम्र में बच्चों को खेलना कूदना व पढ़ना-लिखना चाहिए। उस उम्र में अविभावकों ने अपने बच्चों में उपभोक्तावादी रवैया विकसित कर दिया है। किंतु आज हम इस सत्य को भूल गए हैं कि आज का बालक कल का नागरिक

होता है।' मात्र नाचने-गाने से देश का भविष्य नहीं सँवारा जा सकता है।

संस्कृत में एक उक्ति है - 'निर्वातदीपे किमु तैलदानम्' अर्थात् बुझे हुए दीपक में तेल डालने से कोई फायदा नहीं। अतः आज आवश्यकता है ऐसी शिक्षा की जो बालकों के जीवन-निर्माण और चरित्र निर्माण में सहायक हो। किंतु मीडिया अपने इस दायित्व को भूलकर अपसंस्कृति का प्रचार-प्रसार कर रहा है। दूसरे शब्दों में हम यह भी कह सकते हैं कि "यह वह दुनिया है जिसमें बच्चे किशोरवय में पहुंचने से पहले जवान हो गए हैं। जहाँ नौ साल की नटखट उम्र सोलहवें साल में तब्दील हुई दिखती है। जहाँ आत्मविश्वास का आंकड़ा फेसबुक पर आपके संबंधों की हैसियत से मापा जाता है, जहाँ टैटू एक अनिवार्यता है, जहाँ जन्मदिन की पार्टियाँ शराबघरों में होती हैं और जहाँ किसी और के घर में रात बिता लेना जवानी में पहुँचने के रास्ते का एक ज़रूरी पड़ाव होता है। यह वह उम्र है, जहाँ स्कर्ट्स की किनारी ऊँची होने लगती है और पतलूनों की कमर नीचे खिसकने लगती है। जहाँ खेल के मैदान की जगह मॉल ले ली है। जहाँ बाल पुस्तकों को कोई छूकर भी नहीं देखता है, जहाँ करामाती गुड्डों और खिलौना कारों की जगह पीएसपी खेलों और आई-फोन्स ले ली हैं। बचपन की परिभाषा बदल गई है"²

भारतीय संस्कृति में नारी को पूजा गया है और उसे आस्था के सिंहासन पर प्रतिष्ठित किया गया है। मनुस्मृति में कहा गया है - "यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः"। वेदों में और पौराणिक साहित्य, दोनों में नारी को पुरुष के समान अधिकारों की व्यवस्था है वह अनेक वैदिक मंत्रों की रचयिता भी मानी गई है। यहाँ तक कि नारी के बिना यज्ञ भी अपूर्ण ही समझा जाता था। किंतु मीडिया के दुष्प्रभाव ने स्त्री की इस छवि को इस तरह उधेड़कर रख दिया है कि वह न तो माँ रह पा रही है और न बहिन। उसकी अस्मिता मजाक बनकर रह गई है। उसने नारी को 'काम के सिंहासन पर प्रतिष्ठित कर दिया है। 'सिद्ध संप्रदाय' की भाँति ही मीडिया की कोई भी साधना स्त्री के बिना पूरी नहीं होती। आज मीडिया ने औरतों के शारीरिक सौंदर्य और अंग सौष्ठव के प्रदर्शन के नाम पर उनकी देह को षडयंत्रपूर्वक बाजार की वस्तु बना दी है। जो हमारी संस्कृति और समाज के लिए कुपाच्य है। नौजवान तथा किशोर-किशोरियों का अक्षील दृश्यों के दर्शन के प्रति आकर्षण बढ़ता जा रहा है। कच्ची उम्र में ही वे 'काम-भावना' के प्रति अति संवेदनशील होने लगे हैं। हालत यह है कि थोड़ी सी फुर्सत मिली नहीं कि वह अक्षील दृश्यों को देखने के लिए टी.वी. से आचिपकता है।

यही बात हमारे चलचित्रों की है। आजकल अधिकांश फ़िल्में ऐसी बनाई जाती हैं, जिनमें जनता का सस्ता मनोरंजन होता है। कामोत्तेजक दृश्यों के बिना तो सम्भवतः कोई चित्र बनता ही नहीं, नग्न शरीर, आकर्षक हाव-भाव, कटाक्षपूर्ण नृत्य की मुद्राएँ और रोमांचकारी चुम्बन। इन कुवासनापूर्ण चित्रों को देखकर हमारे कोमल बुद्धि नवयुवक पथभ्रष्ट कैसे न होंगे। सिनेमा के संगीत ने जनता के हृदय पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया है। उनमें सभी गाने बुरे हों ऐसी बात नहीं है। किसी-किसी पद्य पंक्ति में साहित्य कूट-कूट कर भरा होता है और कहीं तो अद्वैत और अभेद के दर्शन होते हैं। परंतु सड़कों पर गाने वाले आटो, ताँगे और रिक्शा वाले, गलियों में गाने वाले छोटे-छोटे बच्चे उन्हीं पंक्तियों को पकड़ते हैं, जिनसे कुवासना की गंध आती है। माता-पिता की आँखों से बचकर प्रेम का बिरवा लगाने वाले युवक और युवतियाँ बिना सोचे-समझे वैसा ही करने लगते हैं जैसा उन्होंने सिनेमा में देखा था। आए दिन हम लोग ऐसी दुःखद घटनाओं को समाचार, अखबारों में पढ़ते हैं। चलचित्रों द्वारा भारतीय नवयुवकों का इस प्रकार का संखलन बड़ी लज्जा की बात है।

मीडिया का यह दुष्प्रभाव केवल नवयुवकों या नवयुवतियों पर नहीं बल्कि अर्धे उम्र की स्त्रियों पर भी स्पष्ट दिखाई पड़ता है। जिस उम्र में उन्हें अपने परिवार के सदस्यों में संस्कार डालकर उनके जीवन रूपी ईमारत को मजबूत बनाना चाहिए, उस उम्र में वह लिपिस्टिक पाउडर की फ्रेक्ट्री बन जाती है। जैसे-

"वह कौन सा मीडिया का नुस्खा है,
कि जिस उम्र में मेरी माँ का चेहरा,
झुर्रियों की झोली बन गया है।
उस उम्र में, मेरे पड़ोस की महिला के चेहरे पर
मेरी प्रेमिका के चेहरे सा, लोच है"³

इस प्रकार इलेक्ट्रानिक मीडिया का अधिकांश समय एक अपसंस्कृति का प्रचार करने पर आमादा है। सोचकर देखिए कि हम अपनी आनेवाली पीढ़ी के लिए विरासत में क्या छोड़कर जा रहे हैं। भारतीय लोकतांत्रिक परिप्रेक्ष्य में मीडिया की भूमिका शायद कह देने से तय नहीं होने वाली। हमारे देश का मीडिया आज भी जो काम कर रहा है वह अन्य क्षेत्रों से बेहतर है लेकिन इससे संतोष नहीं किया जा सकता क्योंकि भारतीय संदर्भ में लोकतंत्र के इस चौथे खंभे ने अपनी भूमिका से देश की आजादी में योगदान से लेकर तमाम ऐसे कार्य किए हैं जिस पर खबरपालिका गर्व कर

सकती है। लेकिन मीडिया का रूढ़ान पिछले कुछ वर्षों में जिस तरह बदला है उस पर उसे स्वयं विचार करना होगा। मीडिया को केवल हम लताड़ दें, इससे बात नहीं बननेवाली हालांकि मीडिया को अब जनसामान्य की उन चिंताओं के प्रति संवेदनशील होने की ज़रूरत है जो मीडिया की प्राथमिकताओं के खिलाफ़ विकसित हो रही है। मीडिया को अपनी कार्य प्रणाली पर सोचने की ज़रूरत है कि कैसे वह अब समाज की आवाज बन सकें। यदि जल्द ही इस पर अंकुश नहीं लगाया गया तो मीडिया समाज में केवल अंधेरी रात में उड़नेवाले चमगादड़ ही पैदा करेगी, स्वाधीनता के प्रकाश में दहाड़ने वाले शेरों को जन्म नहीं दे सकती।

संदर्भ

1. रघुवीर सहाय रचनावली पृ. सं- १७८
2. इंडिया टुडे, अंक १९, मई २०१०, पृ. सं- ५२
3. डॉ. जगदीश कुमार प्रजापति, हिन्दी साहित्य का प्रवृत्त्यात्मक अध्ययन